आलेख

ओमप्रकाश कश्यप

भारतीय लोकतंत्र : यात्रा और पड़ाव

खून की बूंद न गिरते हुए भी लोगों के जीवन में सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन लाने की व्यवस्था का अभिप्राय है लोकतंत्र!
डॉ. आंबेडकर.

कॉलेज के दिनों में एक कविता पढ़ी थी. कवि का नाम और कविता के आखर तो गड्डमड्ड हैं. ऐर-फेर के साथ बस कुछ शब्द दिलो-दिमाग में अटके हैं. कविता की पहली पंक्ति शायद यूं थी—देश रे देश....तेरे सिर पर कोल्हू.....इसे पेरेंगे जाट, बाह्मन, बनिया....! भारतीय राजनीतिक पटल पर वह इंदिरा गांधी और उनकी उग्र मनमानियों का युग था. मानवीय अस्मिता और जनाधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले कलमकार, बुद्धिजीवी, विचारक, समाजप्रेमी, राजनेता वगैरह सभी गिरफ्तार किए जा रहे थे. स्वातंत्र्योत्तर भारत में स्वप्नभंग की आहत मानसिकता के बीच कवि ने इसको रचा था. भावुक मन से. संभवतः यह सोचकर कि लोग उसकी संवेदना को समझेंगे. कविता के मर्म तक जाकर, कुछ ऐसा करेंगे जिससे जनतंत्र की बदहाली कम की जा सके. लेकिन तीन दशक से अधिक बीत चुके हैं. कविता के माध्यम से कवि ने जो कामना की थी. जो स्वप्न उसने संजोए थे. मन को मारकर जो तंज कसा गया था, वह बेमानी सिद्ध हो चुका है. कवि की कामना के उलट स्थिति और भी बदतर हुई है. समाज में जातीय विभाजन और तत्संबंधी ऊंच-नीच की भावना गहराती ही जा रही है. लोकतंत्र की प्रबुद्धता के बड़े-बड़े दावों के बावजूद देश में जाति-धर्म और क्षेत्रीयता पर आधारित विभाजन और भी गहरा हुआ है. भीड़तंत्र में ढलकर वह अपनी मूल पहचान और संवेदना से दूर होता जा रहा है. और संसद...जाने दीजिए, सच सुनते ही 'भलेमानस' तिलमिला उठेंगे. जनमानस में सांसदों की हैसियत का अनुमान मात्र इसी से लगाया जा सकता है कि पीछे जब आतंकवादियों ने संसद-भवन पर दबिश की तो दबे स्वर में हर शख्स यही कह रहा था कि आतंकवादियों को आखिर मरना तो था ही. काश! वे अपना काम ठीक-ठाक कर जाते. जहां जनप्रतिनिधियों के प्रति आमजन के ऐसे खयाल हों, वहां लोकतंत्र की वास्तविकता अपने आप समझी जा सकती है. कोढ़ में खाज यह कि एक ओर तो संसदीय लोकतंत्र, जाति एवं संप्रदाय आधारित ऊंच-नीच की भावना का शिकार होता होता जा रहा है, दूसरी ओर पीछे के रास्ते से पूंजीपति और धन्नासेठ संसद-भवन की सीटों को कब्जाते जा रहे हैं. जनप्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित स्थानों पर काबिज होते ही यह वर्ग सरकारी मशीनरी को स्वार्थानुरूप मोड़ने का प्रयास करता है. उधर अधिकांश लोग मान चुके हैं कि अपनी खामियों के बावजूद लोकतंत्र निर्विकल्प है. वस्तुतः अपने देश में जनता की लोकतांत्रिक प्रबुद्धता का दावा इतना बढ़-चढ़कर किया जाता है, कि बुद्धिजीवीवर्ग आमतौर पर उसकी खामियों पर चर्चा करने से भी कतराता है. इसी कमजोरी का फायदा उठाकर चुनाव में नागनाथ और सांपनाथ आमने-सामने होते हैं. विवश मतदाता को उन्हीं में से किसी एक को चुनना पड़ता है.

विद्वतजन कह सकते हैं कि नेताओं का पाप लोकतंत्र के मत्थे क्यों मढ़ा जाए. उन्हें भी तो जनता ही चुनकर भेजती है. एक तरह से वे हमारे लोकचरित्र का ही प्रतिनिधित्व करते हैं. नैतिकता यदि लोकजीवन से ही नदारद है तो राजनीति में कहां से आएगी! फिर भारत में लोकतंत्र आज की बात नहीं. उसकी उपस्थिति तो सहस्राब्दियों से है; और शायद तभी से ऐसा ही चलता आया है. उनका दावा अकारथ भी नहीं है. वैदिक साहित्य में गणपति शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है. इसका एक अर्थ गण अर्थात नागरिक भी है. तदनुसार गणपति का आशय नागरिकों द्वारा सर्वसम्मति अथवा सम्मति की बहुलता के आधार पर चुने गए प्रशासक से है. हिंदू परंपरा में गणपति को सभी देवताओं में अग्रणी, सर्वप्रथम पूज्य माना गया है. इस बात की प्रबल संभावना है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति गणतांत्रिक राज्य में हुई हो. बाद में जब समाज में पांडित्य के नाम पर पोंगापन असर जमाने लगा, निहित स्वार्थों के लिए बुद्धिजीवी वर्ग राजशाही की चाटुकारिता में डूब गया, तब गणतांत्रिक पद्धति पर आंच आना स्वाभाविक ही था. परिणामस्वरूप गणपति का अर्थ भी रूढ़ होकर हाथी की सूंड वाला प्राणी हो गया. यह भी संभव है कि गणतंत्र के विरोधियों ने उसका मखौल उड़ाने के लिए यह व्यंजनायुक्त प्रतीक गढ़ा हो. राजशाही के चौतरफा साम्राज्य में यह यह स्वाभाविक भी था. गणतंत्र आधारित छोटे-छोटे राज्यों को छोड़ दें तो, भारत समेत पूरे विश्व में लोकतंत्र एवं समानता-आधारित बृहद समाज-रचना उन दिनों दूर की बात थी. इसलिए सोलहवीं शताब्दी में थॉमस मूर ने जब अपनी सुप्रिसिद्ध पुस्तक 'यूटोपिया' की रचना की तो उसमें गणतंत्र और समानता-आधारित समाज रचना पर तंज करते हुए उसका उपहास किया गया था. यह बात अलग है कि कालांतर में थॉमस मूर द्वारा दिया गया नया शब्द 'यूटोपिया' परिवर्तनवादियों की आंखों में नई उम्मीद, नया ख्वाब बनकर उभरने लगा था, जिससे आगे चलकर लोकतंत्र आधारित वास्तविक समाजों की रचना संभव हो पाई.

जो हो गणेश को देवता-प्रमुख के रूप में मिलने वाला सम्मान आज भी इस बात का द्योतक है कि गणपति का अभिप्राय समूह का नेतृत्व करने वाले व्यक्ति से ही था। भारत में गणतंत्र की मौजूदगी के संबंध में बौद्ध ग्रंथ *महापरिनिर्वाण सुत्तंत* में एक चर्चित कथा है. उसके अनुसार मगध-सम्राट अजातशत्रु वैशाली के सुख-समृद्धि से ईर्ष्या करते हैं; तथा उसे किसी भी भांति अपने राज्य में मिलाना चाहते हैं. सम्राट की ओर से महामात्य वर्षकार लिच्छिवी गणराज्यों पर हमला करने से पहले परामर्श के लिए महात्मा बुद्ध के पास जाते हैं. यह जानने के लिए कि विजय के लिए यह युद्ध क्या उपयुक्त रहेगा, यदि युद्ध हुआ तो विजयश्री किसका वरण करेगी—वर्षकार महात्मा बुद्ध आश्रम में पहुंचते हैं, लेकिन आचार्य को खुलकर जवाब देने के बजाय बुद्ध अपने प्रिय शिष्य आनंद को एक रूपक के माध्यम से समझाते हैं. वज्ज़िगणों की संघीय एकता की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि उनकी एकता और गणतंत्रीय निष्ठा जब तक अक्षुण्ण है, तब तक उन्हें युद्ध में कोई परास्त नहीं कर सकता. तत्कालीन भारत में लोकतंत्र की व्याप्ति की ओर संकेत करते हुए पाणिनी साहित्य के अध्येता वी. एस. अग्रवाल लिखते हैं कि उस समय देश-भर में नए-नए गणतंत्र स्थापित करने की जैसे होड़ मची हुई थी. विशेषकर उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित वाहीक देशों में नए गणतंत्रों की स्थापना का कार्य तो अपनी चरमस्थिति को प्राप्त कर चुका था, जहां केवल सौ परिवारों वाले गोष्ठ, स्वयं को स्वतंत्र गणतांत्रिक राज्य के रूप में स्थापित कर रहे थे. वैशाली, कौशांबी जैसे संपन्न राज्यों तथा कुशावती जैसे संपन्न नगरों का वर्णन जातक कथाओं तथा पालि साहित्य में अनेक स्थानों पर हुआ है। ये सभी राज्य गणतांत्रिक प्रणाली द्वारा शासित थे.

भारतीय गणतंत्र की पुरातनता के इन दावों में सचाई तो है, मगर वैशाली, कुशावती आदि राज्यों के बहाने जिस पुरातन गणतंत्र का दावा अक्सर किया जाता है, वह एक प्रकार का उदार कुलीनतंत्र ही था, जिसमें ब्राह्मण विशेषाधिकारयुक्त वर्ग था. गणसमूहों की दुर्बलता ही मानी जाएगी कि उनमें सामाजिक समानता पर विचार नहीं किया गया. हालांकि उनमें से अधिकांश बौद्धधर्म को अपना चुके थे, मगर सामाजिक वर्णक्रम में तब भी ब्राह्मणों का ही वर्चस्व बोलबाला था. गणसमूहों का प्रमुख प्रायः वही होता था, जो समाजक्रम में अपनी श्रेष्ठता का दावा करने में सक्षम हो. दरअसल प्राचीन भारत में गणतंत्र का जो स्वर्णकाल है, वही स्वतंत्र आर्थिक समूहों के चरम विकास का भी युग है. जब यहां परस्पर सहयोगाधारित व्यापारिक समूह अपने उत्कर्ष की चरमावस्था में थे. विभिन्न कामधंधों में दक्ष शिल्पकार, कारीगर छोटे-बड़े व्यापारिक समूहों में संयोजित होकर दूर-दूर तक व्यापार करते थे. इन्हें श्रेणी, पुग, नैगम व्रात्य, गण आदि कहा जाता था. वर्णभेद के आधार पर विभाजित समाज के निचले क्रम में कुछ गणतांत्रिक राज्यों की शासन व्यवस्था क्षत्रियों एवं कुछ की राजन्यों के अधीन थी, जो अपने वर्गीय हितों को ध्यान में रखते हुए निर्णय लेते थे. राजन्यों में विभिन्न प्रकार के व्यापारी, सैनिक, शिल्पकार यथा कुंभकार, बढ़ई, जुलाहे, तैलिक, सार्थवाह आदि सम्मिलित थे, जो अपने श्रम-कौशल के बल पर जीविकोपार्जन करते थे. उनके संगठनों को राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी. महत्त्वपूर्ण अवसरों पर संगठन-प्रमुखों को राजदरबार में ससम्मान आमंत्रित किया जाता था. दूसरे शब्दों में प्राचीन भारत में गणतंत्र संपत्ति और संसाधनों के विकेंद्रीकरण की भी व्यवस्था रही है. वह एक युग-परिवर्तनकारी काम था. अगर उस समय समाज में जाति और वर्ग-संबंधी बंधन शिथिल पड़ जाते, तब संभव था कि पूरा देश गणतंत्र की वास्तविक मर्यादा को पा लेता.

उस कालखंड में समाज का अधिकांश हिस्सा राजशाही के अधीन था. बुद्धिजीवियों में से अधिकांश, विशेषकर प्रभुत्वशाली वर्ग यानी राजशाही के समर्थक थे. यहां तक कि चाणक्य जैसा महान बुद्धिजीवी भी प्रभुता-संपन्न केंद्र का पक्षधर था. इसी दौर में अपने वर्गीय हितों को ध्यान में रखते, प्रतिक्रियावादी रुख अपनाते हुए ब्राह्मणों ने स्मृतियों और पुराणों की रचना की. धर्म का ऐसा ताना-बाना गढ़ा कि सामंतवाद सामाजिक चरित्र का प्रमुख लक्षण बन गया. इसके परिणामस्वरूप उन दिनों आम आदमी को न तो राजनीति से कोई मतलब था, न राजनीति के दरवाजे प्रत्येक नागरिक के लिए समानरूप से खुले थे. उसके लिए धर्म था. समाज में आपसी व्यवहार को नियमित करने के लिए समर्थन और वर्जनाएं थीं. इससे जाति और धर्म आमजन-जीवन का अभिन्न अंग बनते चले गए. यहां तक कि मनुष्य के व्यवहार एवं सिद्धांत का बड़ा हिस्सा इन्होंने कब्जा लिया. बौद्धधर्म ने कतिपय उदारतापूर्ण व्यवहार करते हुए जीवन को निरर्थक रूढ़ियों और कर्मकांडों से मुक्त करने की कोशिश अवश्य की. लेकिन समाज के जातीय विभाजन को छिन्न-भिन्नकर उसे समरस बनाने में वह नाकामयाब ही रहा. हां, उसके प्रभावकाल में विभिन्न शिल्पकार समूहों, छोटे-मोटे व्यापारियों को इतना अवसर जरूर मिला कि वे संगठित होकर व्यापार कर सकें. बावजूद इसके अनेक जाति-वर्गों में विभाजित समूहों के लिए, राजनीति दूरस्थ टापू और धर्म-संप्रदाय उसके लोकजीवन, घर-आंगन का हिस्सा बनते चले गए. इन्हें आचार-विचार और व्यवहार का हिस्सा बनाने तथा सत्ता और संसाधनों की केंद्रीय व्यवस्था को मिले समर्थन ने सामंतवर्ग को जन्म दिया.

सत्ता और संसाधनों पर एकाधिकार की भावना तथा अपनी खामियों को छिपाने के लिए धार्मिक मठाधीशों ने पाप-पुण्य की अवधारणाएं गढ़ीं. इससे धार्मिक जड़ता को प्रश्रय मिला और वर्गकेंद्रित विभाजन का आधार पुष्ठ होता चला गया. श्रमेत्तर सुख को वरीयता मिलने से समाज में परजीवी किस्म के वर्ग का उदय हुआ. अपनी स्थिति को मजबूत करने तथा लोगों को उलझाए रखने के लिए इसी वर्ग ने पारलौकिक सुख जैसी आधारहीन मान्यताओं को जन्म दिया. ईश्वर के बाद सम्राट को दूसरी प्रमुख सत्ता बताकर उसको समस्त कार्यकलापों का केंद्रबिंदु बना दिया गया. जिससे राज्य उत्तरोत्तर मजबूत होता चला गया. उस दौर का अधिकांश साहित्य सामंतवाद और राजा की भांड-स्तुति से भरा पड़ा है. विपुल संस्कृत वांङमय में एक ग्रंथ भी ऐसा नहीं है, जिसमें लोकतंत्र और जनाधिकारिता का खुलकर समर्थन किया

गया हो, अथर्ववेद की एक लोकोन्मुखी प्रार्थना में यह जरूर कहा गया है—*प्रजा सुखे सुख राज्ञः—प्रजानां च हिते हितम्*... कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख निहित है, प्रजा के कल्याण से ही राजा का कल्याण संभव है. मगर इस बात की भी प्रबल संभावना है कि इस व्यवस्था का उपयोग सम्राट पर दबाव बनाए रखने और इस बहाने अपने वर्गीय हित साधने के लिए किया जाता हो. क्योंकि वैदिक एवं वेदोत्तर साहित्य में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जब तत्कालीन वुद्धिजीवीवर्ग ने गणतांत्रिक मूल्यों अथवा जनसामान्य के अधिकारों की सुरक्षा के लिए व्यापक स्तर पर राजा का विरोध किया हो. जबकि धार्मिक मूल्यों की अवमानना पर सत्ता के विरोध के अनगिनत उदाहरण हैं. यानी जनतंत्र की उपस्थिति में भी उसकी मूल भावना के अनुरूप काम बहुत कम हुआ. इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय जनतंत्र एक छोटे से इतिहास खंड और कुछेक राज्यों तक सिमटकर रह गया. फिर जैसे ही समाज पर परंपरावादियों का वर्चस्व बढ़ा, जनतंत्र को निरंकुश राजतंत्र में ढलते अथवा उसका अंग बनते देर नहीं लगी.

जिस लोकतंत्र से आज हम सब परिचित हैं और जिसके तहत प्रत्येक हर चौथे-पांचवे वर्ष देश में लोकतंत्र के कुंभ को मनाया जाता है, उसकी अवधारणा मूल रूप से सतरहवीं शताब्दी में फ्रांस मे विकसित हुई. वहां भी लोकतंत्र का विकास औद्योगिकीकरण और समाज में पूंजी के बढ़ते वर्चस्व के विरुद्ध हुआ था. सामंतों और जागीरदारों ने पहले नई तकनीक का लाभ उठाने के लिए बड़े-बड़े कारखाने स्थापित किए, उनमें काम करने के लिए उन्हें सस्ते श्रम की आवश्यकता थी, इसलिए उन्होंने बेहद कम दरों पर मजूदरों को भरती करना आरंभ कर दिया. तकनीक और मशीनों के चमत्कार ने कई वुद्धिजीवियों को भी उनके समर्थन में खड़ा कर दिया था. प्रौद्योगिकीय क्रांति का सबसे प्रबल समर्थक फ्रांसिसी बेकन था. उसको पूरा विश्वास था कि मानवीय श्रम की बचत करने वाली मशीनें ही अंततः मनुष्य की आजादी की वाहक सिद्ध होंगी, जिनका उपयोग कहीं भी और कभी भी, दूसरे उत्पादक कार्यों के लिए किया जा सकेगा. 'ज्ञान ही शक्ति है' की अवधारणा में विश्वास रखने वाले बेकन का मानना था कि नवीन प्रौद्योगिकी और वैज्ञानिक चेतना प्रकृति के ऊपर मनुष्य की विजय का प्रतीक है. मगर उसका यह सपना बहुत जल्दी छिन्न-भिन्न होता नजर आने लगा था. औद्योगिकीकरण द्वारा तत्कालीन यूरोपीय समाज में आया परिवर्तन गुणात्मक था. उसकी ओर इशारा करते हुए सुप्रसिद्ध इतिहासकार सी. डी. एम. बेटलवी ने लिखा है—

'औद्योगिक क्रांति से न तो विशेषाधिकार-युक्त वर्ग उत्पन्न हुआ, न इससे गरीबी आई और न इससे वर्ग-विभेदों को ही प्रश्रय मिला, किंतु औद्योगिक क्रांति ने निश्चित रूप से ऐसे साधन उत्पन्न कर दिए थे, जिनसे कुछ विशेषाधिकार और शक्तियां एक वर्ग के हाथों में केंद्रित होती चली गईं. दूसरी ओर ऐसे मनुष्यों का वर्ग था जो पैसे के लिए अपना श्रम बेचता था, जो अपनी जीविका और दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अथवा पूंजी, लालसाओं, साहस और औद्योगिक प्रशिक्षण के अभाव के कारण, दूसरों की आर्थिक अधीनता में रहने के लिए विवश था.'

अभिप्राय यह है कि प्रौद्योगिकीय क्रांति ने तत्कालीन समाज में मौजूद वर्गभेद को और गाढ़ा करने करने का काम किया था, जिसकी मानवीय स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर रूसो ने भी तीव्र शब्दों में आलोचना की थी. यह त्रासदी सिर्फ किताबी न थी. स्थिति उससे बहुत अधिक दारुण थी. अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लंदन के बुनकरों की दुर्दशा का वर्णन इ. पी. थॉमसन ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'दि मेकिंग ऑफ इंग्लिश वर्किंग क्लास' में किया है—

'उनके (बुनकरों के) घर का सारा साज-सामान, फर्नीचर आदि बिक चुका था। पहनने को केवल चिथड़े नसीब होते थे। प्रतिदिन सोलह-सोलह घंटे लगातार मेहनत करने वाले कारीगरों का इतना बुरा हाल था कि उन्हें आलू, प्याज, शकरकंद, दलिया, शीरे जैसी चीजों के सहारे पेट भरना पड़ता था...ऊपर से प्रदूषण का बुरा हाल था. वह लगातार बढ़ता ही जा रहा था. सार्वजनिक सफाई व्यवस्था बेहद खराब थी. 1848 में रोशडेल की मजदूर-बस्तियों में औसत आयु मात्र इकीस वर्ष थी, जो ब्रिटेन के उस समय के राष्ट्रीय औसत से छह वर्ष कम थी...अपने एकमात्र वस्त्रों को गंदगी से बचाने के लिए औरतें, बच्चे को जन्म देते समय अपने दोनों हाथ ऊपर उठा, दो अन्य औरतों के कंधों का सहारा लेकर खड़ी हो जाती थीं. उसी अवस्था में वे बच्चे को जन्म देती थीं. जो बुनकर अपनी बेमिसाल कारीगरी के लिए पूरी दुनिया में जाने जाते थे, जो अपना समस्त जीवन पूरी दुनिया का तन ढकने के लिए कपड़े और बिस्तर आदि बुनने में लगा देते थे, उनके अपने शरीर पर फटे चिथड़े और बिस्तर पर गंदे तौलिये पड़े होते थे.'

इस घोर श्रम-शोषण के विरुद्ध जब लोकचेतना बढ़ी, पूंजीपतियों के विरुद्ध जब बहुत अधिक लिखा जाने लगा तो उन्होंने तकनीक का सहारा लेना आरंभ कर दिया. उस समय तक पूंजीपति वर्ग वैचारिक क्रांति, समाजवाद और समानतावादी विचारधाराओं का आलोचक था. मगर उच्च तकनीक से जब सघन उत्पादन होने लगा और उसको ठिकाने लगाने की समस्या खड़ी हो गई. दूसरी ओर शिक्षा और औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप लोगों की आमदनी में भी सुधार हुआ था—तब लोगों की बढ़ती खरीद-क्षमता का लाभ उठाने के लिए पूंजीपतियों ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य को समर्थन देना आरंभ कर दिया. दर्शन की प्रयोजनवाद, विज्ञानवाद, उपयोगितावाद, सुखवाद और अस्तित्ववाद जैसी शाखाओं का उद्भव इसी दौर की घटना है. इन सभी में जीवन को भौतिकवादी नजरिये से देखा गया था. मानवाधिकारों के प्रति समर्पण की उच्च भावना ने इसी दौर में चार्टिस्ट आंदोलन को जन्म दिया, जिन्होंने समाज में समान आधिकारिता के लिए लंबा संघर्ष किया था. चार्टिस्ट आंदोलन की शुरुआत 1838 में लोक-अधिकारपत्र (People Charter) के प्रकाशन के साथ हुई थी, जिसे विलियम लावेट और

उसके साथियों ने तैयार किया था. उस अधिकारपत्र में 21 साल से ऊपर के नागरिकों के लिए समान मताधिकार, गुप्त मतदान की व्यवस्था जैसी कुल छह मांगें प्रस्तुत की गई थीं. अपनी मांगों के समर्थन में उन्होंने एक के बाद एक तीन देशव्यापी हड़तालें की थीं. पूंजीवादी राज्यव्यवस्था के विरुद्ध चलाए गए हस्ताक्षर अभियान में चार्टिस्ट आंदोलनकारी तीन करोड़ से ऊपर नागरिकों के हस्ताक्षर कराने में सफल रहे थे. ब्रिटेन में पूर्ण लोकतंत्र की स्थापना की दिशा में वह एक बड़ा कदम था. आगे चलकर सरकारी दमन के आगे चार्टिस्ट आंदोलनकारी बिखरते चले गए. उन छितराए आंदोलनकारियों में से कुछ ने पारस्परिक सहयोग के माध्यम से उपभोक्ता आंदोलन की शुरुआत की, जिससे समाज में परिवर्तनकारी सहकारिता आंदोलन का सूत्रपात हुआ.

पूरब और पश्चिम में गणतंत्रीय प्रणाली के विकास के साथ जुड़ा अजब-सा साम्य यह है कि दोनों ही जगहों पर गणतंत्र का विकास आर्थिक-सामाजिक आत्मनिर्भरता की भावना से प्रेरित था. मगर धीरे-धीरे आर्थिक आत्मनिर्भरता की भावना प्रधान होती चली गई और सामाजिक समानता की ओर से या तो विद्वानों का ध्यान बिलकुल हट गया, अथवा उसे मात्र नारे में सिमेटकर निपटा दिया गया. कुछ यह मानकर कि आर्थिक आत्मनिर्भरता सामाजिक लोकतंत्र का स्वप्न सच करने में भी सहायक होगी, विद्वतजन समाज में पूंजी के बढ़ते प्रभाव और उसके निरंकुश व्यवहार की ओर से आंखें मूंदे रहे. परिणामस्वरूप सामाजिक समानता की भावना जो लोकतंत्र का अभीष्ट थी, की ओर लोगों का कम ही ध्यान गया. आर्थिक उपलब्धियों को प्रमुखता देने वाले समूहों ने संगठित होकर राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने तथा तत्कालीन राजनीति में अपनी दखलंदाजी बढ़ाने का कार्य किया. चूंकि उनकी आर्थिक हैसियत लगभग एकसमान थी, वे न केवल इस आधार पर एकजुट होने के अभ्यस्त हो चुके थे, बल्कि जान चुके थे कि अपनी आर्थिक संपन्नता और एकजुटता के बल पर वे राजनीतिक गलियारों में सम्मान पा सकते हैं, और उसको प्रभावित भी कर सकते हैं. इसलिए उन्होंने गणतंत्र की शरण में जाना आवश्यक समझा. साथ ही निहित स्वार्थों के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता की भावना को उपभोग की विविधता एवं चयन की स्वतंत्रता के रूप में व्याख्यायित करना आरंभ कर दिया. शिक्षा समेत मानवीय विवेक को ऊंचाई प्रदान करने वाले अन्य उपादान अंततः व्यक्तिवादी चेतना और मुक्त उपभोग यानी बाजार के पैरोकार बनते चले गए. खासकर शिक्षा के व्यावसायिकीकरण द्वारा यह बात लोगों के दिमाग में बिठा दी गई कि उसका प्रमुख लक्ष्य मनुष्य को आर्थिक आत्मनिर्भरता प्रदान करना है. इससे शिक्षा का लोककल्याणकारी चेहरा उत्तरोत्तर मैला होता चला गया. परिणामस्वरूप पूंजीवादी विस्तार के साथ-साथ अर्थसत्तावादी लोकतंत्र अपनी वैश्विक पहचान बनाता चला गया.

भारत के लिए लोकतंत्र में भले की पुरातन पद्धति रही हो, मगर यहां आरंभ से ही उसके नाम पर सामंतवादी, प्रतिक्रियावादी शक्तियां निहित स्वार्थों के लिए समानाधिकार की भावना का दोहन करती रही हैं. वे यह काम मनुष्य को जाति और धर्म के नाम पर विभाजित करके करती हैं. उनके बरक्स बाजार व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना का उपयोग मनुष्य को उपभोक्ता के रूप में ढालने के लिए करना चाहता है. स्वार्थ के लिए सामंतवादी-साम्राज्यवादी शक्तियां राजनीति को माध्यम बनाती हैं, और सत्ता में भागीदारी का लालच देकर समाज के विभिन्न वर्गों के अंतसंघर्ष को विस्तार देती हैं. दूसरी ओर पूंजीवादी शक्तियां बाजार और मीडिया के माध्यम से लोगों के दिलो-दिमाग पर इस तरह छा जाना चाहती हैं कि आम व्यक्ति उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ सोच भी न सके. वस्तुतः स्वाधीनता आंदोलन के दौरान भारतीय समाज का एक लोकतांत्रिक चरित्र बन चुका था. या कहिए कि आजादी के संघर्ष के दौरान कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ने वाले लोग एक-दूसरे की भावनाओं को समझकर सहअस्तित्व के लिए कल्याणकारी निर्णय लेना सीख चुके थे. यह भी हो सकता है कि समाज की विघ्नटनकारी स्वार्थी ताकतें जो सत्ता की करीबी का लाभ उठाकर अपना उल्लू सीधा करने में लगी रहती थीं, वे बदनाम होकर अपनी सामाजिक पहचान को धूमिल कर चुकी थीं और आमजनमानस पर उनका प्रभाव नगण्य था. दूसरे शब्दों में अशिक्षा के बावजूद समाज में पर्याप्त विवेकशीलता थी. लंबे संघर्ष, सहजीवन और सांस्कृतिक समरूपता ने लोगों को एकजुटता का अवसर दिया था, जिससे देश अंग्रेजों के विरुद्ध लामबंद हुआ था. इसी दबाव के कारण राजे-रजबाड़ों को अपना बोरिया-बिस्तर समेटना पड़ा. यहां तक कि महात्मा गांधी को जातिप्रथा के बारे में अपना परंपरावादी दृष्टिकोण बदलते हुए दलितोद्धार जैसे सामाजिक समानतावादी मुद्दों को अपने कार्यक्रमों में सम्मिलित करना पड़ा. बहुख्यात तथ्य है कि वर्षों तक भारतीय स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व करने वाले महात्मा गांधी प्रारंभ में वर्गवाद के पोषक थे, मगर भारतीय राजनीति में डॉ. आंबेडकर के बढ़ते प्रभाव ने समाज के शोषित एवं उत्पीड़ित वर्ग की आंखों में आत्मसम्मान एवं समानता का सपना रोपा था. उन दिनों इस वर्ग की आंखों में बदलाव की तीव्र वांछा और मन में जबरदस्त आक्रोश था, जिसकी उपेक्षा कर पाना गांधीजी के लिए भी असंभव ही था. डॉ. आंबेडकर और महात्मा गांधी के संयुक्त दबावों के चलते स्वतंत्र भारत की सरकार को सामाजिक आजादी को अपना संवैधानिक लक्ष्य घोषित करना पड़ा. तय किया गया कि राजनीतिक आजादी के साथ-साथ सामाजिक समानता का ऐसा वातावरण विकसित किया जाएगा, जिसमें प्रत्येक नागरिक खुद को स्वाधीन अनुभव कर सके. इसके लिए संविधान में नीतिनिर्देशक तत्वों को विशेषरूप से सम्मिलित किया था, जिनके बारे में डॉ. आंबेडकर ने कहा था कि—

'मेरे दृष्टिकोण में नीतिनिर्देशक तत्व का अत्यंत महत्त्व है. क्योंकि यह हमारा आदर्श आर्थिक लोकतंत्र प्रदान करता है. कारण हम

संविधान की यंत्रणा के द्वारा सिर्फ संसदीय लोकतंत्र स्थापित नहीं करना चाहते. नीति-निर्देशक तत्वों द्वारा हम अर्थव्यवस्था और आदर्श समाज-व्यवस्था स्थापित करने की अपेक्षा करते हैं. इसलिए हमने जानबूझकर संविधान में नीतिनिर्देशक तत्वों का समावेश किया है.'

आजादी के बाद देश में विभिन्न दलों की सरकारें बनीं. लोकतंत्रीय व्यवस्था के चलते दलित एवं शोषित वर्ग के लोग भी सत्ता के शिखर पर पहुंचने में कामायाब रहे हैं. किंतु लोकतंत्र को लेकर जो आदर्शोन्मुखी कामना संविधान में की गई थी, व्यवहार में वह उस लक्ष्य से उत्तरोत्तर परे होता गया है. इस बीच भारत में दलित और पिछड़े वर्ग की राजनीति के नए स्वर उभरे, लोकतंत्र ने उन्हें अवसर दिया कि वे अपने मान-सम्मान और बराबरी के संघर्ष को राजनीति की जमीन पर भी आगे बढ़ा सकें. इसमें उन्हें कामयाबी भी मिली, जिसके परिणामस्वरूप आज देश के अनेक प्रांतों में उन वर्गों की सरकारें हैं, जिन्हें पहले घोषितरूप में सत्ता से परे रखा जाता था, मगर समाज में जाति और संप्रदाय के नाम पर आए दिन होने वाले वाले झगड़े इस बात के प्रतीक हैं कि देश आज भी आजादी के लक्ष्य को पाने में नाकाम रहा है. अपने लोकतांत्रिक अधिकारों के चलते ये वर्ग सत्ता में साझेदारी तो हासिल कर चुके हैं, मगर सामाजिक आजादी का लक्ष्य आज भी अधूरा है. हालांकि यह निर्विवाद सचाई है कि लोकतंत्र आज मौजूद शासनपद्धतियों में सर्वाधिक मानवीय और नैतिकता-संपन्न शासन-पद्धति है. इसलिए फिलहाल तो वह निर्विकल्प ही है. उसमें खामियां जरूर हैं, जिनका निदान खोजने की आज सर्वाधिक जरूरत है. देश-भर में लोकतंत्र के नाम पर चल रहे बाजारवाद, जातिवाद, संकीर्णतावाद के खेल को समझने के लिए हमें इसके शुद्धीकरण के प्रयास जरूर करने होंगे. इसके लिए छोटे-छोटे कस्बों से लेकर बड़े महानगरों तक लोगों को लोकतंत्र तथा नागरिक अधिकारों के बारे में परचाना होगा. उन्हें बताना होगा कि सामाजिक लोकतंत्र राजनीतिक लोकतंत्र से बड़ी और महत्त्वपूर्ण चीज है. स्वाधीन भारत में गांधीजी कांग्रेस को सक्रिय राजनीति से दूर रखकर जिस संकल्प की सिद्धि चाहते थे, वह कुछ ऐसा ही था. आज के भारत को सबसे ज्यादा जरूरत उसी की है. तभी स्वतंत्रता और आदर्श समाज की स्थापना का सपना सच हो सकता है. डॉक्टर आंबेडकर के शब्दों में कहें तो—

'मेरा आदर्श समाज वह समाज है जिसका आधार समता, स्वतंत्रता एवं भाईचारा है. और क्यों नहीं. भाईचारे पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है. मैं नहीं मानता कि किसी को कोई आपत्ति हो सकती है. एक आदर्श समाज परिवर्तनशील होना चाहिए. इसके अलावा ऐसे स्रोतों से परिपूर्ण होना चाहिए, जिनके द्वारा एक हिस्से में होने वाले परिवर्तन को दूसरे हिस्सों में पहुंचाया जा सके. एक आदर्श समाज में ज्ञानपूर्वक ढंग से संचारित एवं सहभागित अनेक हित होने चाहिए. एक-दूसरे से मिलने के दूसरे तरीकों के साथ संपर्क के विभिन्न और मुक्त बिंदु होने चाहिए. दूसरे शब्दों में सामाजिक अंतःपरासण होना चाहिए. यह भाईचारा है, जिसका दूसरा नाम लोकतंत्र है.'

तो जरूरत लोकतंत्र को लोक के, आमजन के और अधिक निकट ले जाने, उसको आर्थिक जकड़बंदी से दूर रखने की है. विभिन्न समूहों, नागरिकों की आत्मनिर्भरता लोकतंत्र का अभीष्ट अवश्य है, मगर उसकी वास्तविक सिद्धि समरस एवं समानतापूर्ण समाज की स्थापना के बगैर अधूरी है. अतः समस्त बुद्धिजीवियों, कलाकारों, लेखकों यहां तक कि व्यापारियों, पेशेवरों और सामान्य नागरिकों का यह दायित्व है कि वे जैसे भी हो लोकतंत्र की सिद्धि और समृद्धि के लिए समर्पण-भाव से काम करें. यही हमारा मनोरथ है, यही आज की जरूरत.

opkaashyap@gmail.com